THE ECONOMIC TIMES

Date: 08-11-25

Our Colonial Mindset In Western Politics

ET Editorials

There's a peculiar thrill — and pinch of colonial heartburn — that grips many RIs (resident Indians) when 'one of our own' ascends to political power in the West. The sight of an Indian origin veep in Washington, PM in London or mayor in NYC evokes a cocktail of pride, suspicion and confusion. 'Look how far we've come!' we cheer, even as some of us think, 'But now, we're going to mess things up there.' Code for nostalgia about when 'White men' had the sole task of keeping countries, especially their own, shipshape.

Source of this schizophrenia is a strong, underlying colonial hangover, laced with a collective inferiority complex coated by a patina of loud (too loud?) supranational pride. For centuries, Indians were told they weren't fit to govern themselves, let alone countries that once governed them. Now, when someone of (partial or otherwise) Indian origin sits in a high chair in the US or Britain, it short-circuits the old imperial wiring. The thrill is real: a symbolic comeuppance that disproves any ethnic inferiority. But, paradoxically, this is marked by a lingering doubt about whether 'one of us' can be up to the job. Many Indians still measure success through Western validation. And in many an RI eye, a Harris, Sunak or Mamdani could spoil the 'West' by recreating it with 'Indian characteristics'.

Interestingly, this self-undermining is limited to politics. In business, top global CEOs and leaders of Indian-origin are seen for what they are: fellow drivers of the new world economy. Which underlines how the RIs' 'doubts' confined to politics is a product of India's political past still affecting its present mindset. And the 'Indian way' of doing politics here in India doesn't help to dismantle this complicated complex in a hurry.

दैनिक भास्कर

Date: 08-11-25

रैंकिंग में हमारे शैक्षिक संस्थान क्यों पिछड़ रहे हैं?

संपादकीय

दुनिया के उच्च शिक्षा संस्थानों की रैंकिंग करने वाली क्यूएस लिस्ट में एशिया की कुल 1529 संस्थाओं में इस साल भारत के रिकॉर्ड 131 नए इंस्टिट्यूट्स को शामिल किया गया। लेकिन पिछले साल के मुकाबले देश के सभी शीर्ष 10 संस्थानों- जिनमें सात आईआईटीज हैं- में से नौ की रैंकिंग एशिया की अन्य संस्थाओं के मुकाबले घटी है। पांच प्रमुख आईआईटी

(दिल्ली, मद्रास, बॉम्बे, कानपुर, खड़गपुर) की रैंकिंग में तो भारी गिरावट दर्ज हुई, जबकि आईआईएससी, बेंगलुरु की रैंकिंग भी 62 से घटकर 64 हो गई। केवल चंडीगढ़ यूनिवर्सिटी की रैंकिंग 120 से उठकर 109 पर पहुंची है। खुशी हो सकती है कि चीन के 395 उच्च शिक्षा संस्थानों के मुकाबले इस साल भारत की 296 संस्थाएं क्यूएस रैंकिंग में शामिल की गईं, लेकिन संख्या में वृद्धि के बावजूद पिछले साल के मुकाबले केवल 36 की रैंकिंग बेहतर हुई, 16 की यथावत रही, जबकि 105 की घट गई। टॉप संस्थाओं की रैंकिंग में गिरावट इस बात का संकेत है कि रिसर्च की गुणवत्ता, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विदेश के छात्रों को आकर्षित करने का माहौल और स्कॉलर टीचर अनुपात में हमारे टॉप इंस्टिट्यूट्स पिछड़े हैं। हांगकांग यूनिवर्सिटी प्रथम आई, जबकि तीसरे स्थान पर सिंगापुर की दो यूनिवर्सिटीज रहीं। भारत का जीडीपी सिंगापुर और हांगकांग के मुकाबले क्रमशः नौ और दस गुना है।

Date: 08-11-25

अब मुनाफे और पर्यावरण को अलग करके देखना ठीक नहीं

रघुराम राजन, (आरबीआई के पूर्व गवर्नर)

अमेरिकी सिक्योरिटीज़ एंड एक्सचेंज कमीशन (एसईसी) के अध्यक्ष पॉल एटकिंस ने हाल ही में फाइनेंशियल टाइम्स में लिखा कि एसईसी को कंपनियों से केवल इसी मानदंड पर जानकारी प्रदान करने की अपेक्षा करनी चाहिए कि क्या कोई समझदार निवेशक उसे महत्वपूर्ण मानेगा? जबकि सामाजिक परिवर्तन लाने की चाह रखने वाले नियम इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते और निवेशकों को भी निराश करते हैं।

प्रथमदृष्टया तो एटकिंस का बयान साधारण और तर्कसंगत लगता है। लेकिन यह हमारे सामने एक महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा करता है : किसी फर्म के वित्तीय प्रदर्शन के लिए क्या महत्वपूर्ण है? एटकिंस ईयू के कॉर्पोरेट सस्टेनेबिलिटी रिपोर्टिंग निर्देशों का हवाला देते हैं। ये निर्देश पर्यावरणीय, सामाजिक और शासन संबंधी जानकारियों की पारदर्शिता में सुधार के लिए कॉर्पोरेट सस्टेनेबिलिटी रिपोर्टिंग का विस्तार और मानकीकरण करते हैं। पर एटकिंस की दलील है कि ऐसी जानकारियां सामाजिक रूप से तो महत्वपूर्ण हो सकती हैं, लेकिन अमूमन वित्तीय रूप से फायदेमंद नहीं होतीं।

लेकिन अगर यूरोपीय नियामकों को लगता है कि पर्यावरण महत्वपूर्ण है और वे अपने इस विश्वास के अनुसार कार्य करते हैं, तो इसका यूरोप में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के व्यापार की लागत पर भौतिक प्रभाव भी तो पड़ता है। पिछले महीने ही, पेरिस की एक अदालत ने पाया कि बहुराष्ट्रीय एकीकृत ऊर्जा और पेट्रोलियम कंपनी टोटलएनर्जीज़ ने यह दावा करके भ्रम पैदा किया था कि वह एनर्जी ट्रांजिशन में एक प्रमुख भूमिका निभा रही है। यूरोपीय संघ के उस कानून का हवाला देते हुए- जिसके अनुसार पर्यावरण संबंधी दावों के लिए उद्देश्यपूर्ण, सार्वजनिक रूप से उपलब्ध और सत्यापन योग्य प्रतिबद्धताओं और लक्ष्यों का समर्थन आवश्यक है- अदालत ने पाया कि कंपनी की जलवायु संबंधी घोषणाएं हाइड्रोकार्बन में उसके विस्तारित निवेश के अनुरूप नहीं हैं। हालांकि कंपनी पर लगे जुर्माने अधिक नहीं हैं, लेकिन भविष्य में इनके बढ़ने की संभावना है- और इसीलिए यह निवेशकों के लिए महत्वपूर्ण हैं।

जाहिर है कि आज कंपनियों की पर्यावरण-अनुकूल रणनीतियों या उन्हें सार्वजनिक करने की जरूरत पर अमेरिकी नियामक बहुत कम ध्यान देते हैं। लेकिन अगर कहीं और के नियामक इस पर ज्यादा ध्यान देते हैं, तो ऐसी रणनीतियां उन कंपनियों के लिए अभी भी महत्वपूर्ण हैं, जो सीमा पार व्यापार करती हैं। और चूंकि अमेरिका में पर्यावरणीय, सामाजिक और शासन संबंधी नीतियों के गुण-दोषों को लेकर डेमोक्रेट्स और रिपब्लिकन के बीच गहरा मतभेद है, इसलिए जो कंपनी इनसे संबंधित कार्रवाइयों से बचती है, वह भविष्य में खुद को मुश्किल में पा सकती है। क्या दीर्घकालिक आय को महत्व देने वाले निवेशकों को इन मुद्दों पर अपना निर्णय लेने का अधिकार नहीं होना चाहिए?

केवल नियामक ही इसकी परवाह नहीं करते। टोटलएनर्जीज़ के मामले में चिंता यह थी कि ग्राहक कंपनी की पर्यावरण संबंधी घोषणाओं से गुमराह हो जाएंगे। एक निरंतर गर्म होती दुनिया में यह उम्मीद करना वाजिब है कि कुछ लोगों के खरीदारी के फैसले कंपनी की पर्यावरण संबंधी कार्रवाइयों से प्रभावित हो सकते हैं। इसके अलावा, शोध बताते हैं कि बेहतर पर्यावरण संबंधी कार्रवाइयों वाली ब्राजीलियाई कंपनियां अधिक कुशल श्रमिकों को आकर्षित करती हैं और अंततः बेहतर प्रदर्शन करती हैं। इसका यह मतलब है कि पर्यावरण के प्रति सजगता का प्रदर्शन करने का सार्वभौमिक राजनीतिक प्रभाव है या नहीं, यह बात गौण है। लेकिन यदि वह बेहतर श्रमिकों को आकर्षित करता है और किसी फर्म के लाभ में वृद्धि करता है तो कंपनी के शेयरधारक इसके बारे में जानना चाहेंगे।

कॉर्पोरेट-डिसक्लोजर के लक्षित वर्गों के बारे में एटकिंस एक वैध चिंता जरूर व्यक्त करते हैं। वे उन नियमों का विरोध करते हैं, जो उन शेयरधारकों के लिए बनाए गए हैं, जो सामाजिक परिवर्तन लाना चाहते हैं या जिनके उद्देश्य अपने निवेश पर वित्तीय लाभ को अधिकतम करने से संबंधित नहीं हैं। लेकिन क्या होगा अगर कुछ शेयरधारक सामाजिक रूप से लाभकारी प्रैक्टिसों के लिए अपने लाभ का त्याग करने को तैयार हैं? तब क्या उनकी प्राथमिकताओं को नजरअंदाज किया जाना चाहिए? यह क्या बात हुई कि कोई कंपनी अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए पर्यावरण को प्रदूषित करना जारी रखे, ताकि बाद में उसके पर्यावरण के प्रति सजग शेयरधारक अपनी बढ़ी हुई संपत्ति का कुछ हिस्सा सफाई के लिए खर्च कर सकें? जबकि यह जाना-माना तथ्य है कि पर्यावरण में सुधार करना प्रदूषण को रोकने की तुलना में कहीं अधिक महंगा होता है।

Date: 08-11-25

कैसे छुटकारा मिलेगा धनबल और बाहुबल की सियासत से?

पवन के. वर्मा (पूर्व राज्यसभा सांसद व राजनयिक)

हम भले ही दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र हों, लेकिन हमारे यहां राजनीति में अपराधियों की संख्या भी सबसे ज्यादा है। दमखम और जनादेश के इस गठजोड़ का कारण एक सिस्टम है। इस सिस्टम का आधार क्या है? पहला, अच्छी तरह से कार्यशील संस्थाओं के अभाव में ताकत, पैसा और प्रभाव रखने वाला कोई अपराधी भी सुरक्षा पाने और अपने बेईमानी भरे साम्राज्य को फैलाने के लिए राजनीतिक वैधता तलाशता है। दूसरा, दलों को चुनावी मुकाबलों और प्रचार के लिए भारी पैसा चाहिए। ऐसे में वे 'साफ-सुथरे' के बजाय 'जिताऊ' उम्मीदवार चुनने में नहीं हिचकते। तीसरा, सिस्टम की विफलता के कारण वोटर भी अकसर ऐसे दबंगों को न केवल बर्दाश्त करते हैं, बल्कि उन्हें जनादेश से पुरस्कृत भी करते हैं।

जो व्यक्ति स्थानीय पुलिस, न्याय-तंत्र, विकास कार्यों के ठेके नियंत्रित करता है, संरक्षण देने में सक्षम होता है, हफ्ता वसूलता है और अपने मातहतों को मनमाने मुनाफे दे सकता है, वो जनता को अकसर किसी ईमानदार प्रतिनिधि से अधिक प्रभावशाली लगता है। ऐसे में 'दबंग' नेता सिर्फ खलनायक ही नहीं होता, बल्कि विकल्पों के अकाल वाले सिस्टम में किसी आधुनिक रॉबिनहुड जैसी भूमिका निभाता है। एक चौथा कारण भी है, कानूनी और संस्थागत कमियां। सुस्त अदालतें, कमजोर मुकदमे, आसानी से मिल जाने वाली जमानतें, पुलिस पर राजनीतिक दबाव और जवाबदेही की कमी इस सांठगांठ को बनाए रखती है। यही सिस्टम राजनीति का अपराधीकरण करता है।

बाहुबलियों की मिसालें तो यत्र-तत्र-सर्वत्र हैं। बिहार में जेडीयू ने मोकामा से अनंत सिंह को उम्मीदवार बनाया, जो हाल ही हत्या के मामले में गिरफ्तार हुए हैं। कुख्यात हिस्ट्रीशीटर होने के बावजूद उन्हें टिकट दिया गया। उनके सामने सूरजभान सिंह की पत्नी हैं, जो हत्या के मामले में उम्रकैद काट रहे हैं। बीमारी के बावजूद खुद लालू प्रसाद जिसके लिए प्रचार पर निकले, वो रीतलाल यादव भी जाने-पहचाने दबंग हैं। अन्य चर्चित अपराधी नेताओं में मुन्ना शुक्ला, प्रदीप महतो और आनंद मोहन शामिल हैं। आनंद तो गोपालगंज के डीएम जी. कृष्णैया की हत्या का दुस्साहस तक कर चुके हैं। यूपी में माफिया मुख्तार अंसारी पर भी दर्जनों गंभीर मुकदमे दर्ज थे, लेकिन वे कई बार विधायक चुने गए। एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स (एडीआर) के अनुसार लगभग 40% सांसदों ने खुद पर आपराधिक मामले होने की घोषणा की। इनमें से 25% मुकदमे हत्या, अपहरण, महिलाओं के प्रति अपराधों के हैं।

लोकतंत्र से यह कालिख मिटाने के लिए क्या किया जा सकता है? कानून को सुनिश्चित करना होगा कि अगर किसी उम्मीदवार के खिलाफ गंभीर आपराधिक मामले में आरोप तय हो जाएं तो उसे चुनाव लड़ने से अयोग्य घोषित किया जाए। मुकदमों की जल्द सुनवाई और दोषसिद्धि जरूरी है, लेकिन तब तक उम्मीदवारी के मानदंड ऊंचे होने चाहिए। गंभीर आरोपों वाले लोगों को टिकट नहीं दिया जाए। चुनाव प्रचार की फंडिंग में भी पारदर्शिता और सीमा जरूरी है। अपराधी राजनीति में इसलिए भी आते हैं कि वे बेनामी सम्पत्ति बना लेंगे।

इसके अलावा, राजनीतिक अपराधों के लिए स्वतंत्र अभियोजन और फास्ट ट्रैक अदालतें जरूरी हैं। नागरिक संगठनों और मीडिया को जवाबदेही की मांग करनी चाहिए। मतदाताओं को भी समझना होगा कि बाहुबली भले कुछ समय का संरक्षण दे दें, लेकिन वे कानून और विकास, दोनों को कमजोर करेंगे। बेदाग उम्मीदवारों के लिए मतदाता जागरूकता जरूरी है। अंतत:, चूंकि राजनीति का अपराधीकरण सामाजिक विषमता, जातिगत गोलबंदी, गरीबी और कमजोर संस्थाओं के आधार पर ही फलता-फूलता है, इसलिए समावेशी विकास और भरोसेमंद शासन ही धनबल और बाहुबल की सियासत को कमजोर कर सकता है।

जब तक यह नहीं होता, अपराधी सफेद कुर्ते में अपने लिए आश्रय तलाशते रहेंगे। यह ऐसा दुष्चक्र है, जिसमें दल उम्मीदवार चुनते हैं, वोटर उन्हें निर्वाचित करते हैं, कानून लागू करने वाले उन्हें खुला घूमने देते हैं और समाज उन्हें बर्दाश्त करता रहता है। तब वसूली, अवैध फंडिंग, तस्करी, जमीन पर कब्जे और खनन माफिया- सब वैध हो जाते हैं। भारत ऐसा लोकतंत्र नहीं हो सकता है|

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 08-11-25

उच्च शिक्षा में सुधार जरूरी

संपादकीय

नवीनतम क्यूएस एशिया यूनिवर्सिटी रैंकिंग उन चुनौतियों की ओर इशारा करती हैं जिनका सामना भारत को विश्व की सेवा क्षेत्र की राजधानी के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए करना पड़ रहा है। भारत दुनिया की अग्रणी कंपनियों के वैश्विक क्षमता केंद्रों के लिए एक पसंदीदा स्थान के रूप में अपनी स्थिति को अपनी बढ़ती घरेलू बौद्धिक पूंजी का एक संकेतक मानता है। लेकिन वैश्विक उच्च शिक्षा का विश्लेषण करने वाली फर्म, क्वाक्वेरेली साइमंड्स (क्यूएस) द्वारा संकलित वार्षिक रैंकिंग से पता चलता है कि देश अपनी उच्च शिक्षा में गंभीर सुधार किए बिना इस मानव संसाधन पर भरोसा नहीं कर पाएगा।

भारत ने न केवल सबसे अधिक प्रतिनिधित्व वाली उच्च शिक्षा प्रणाली के रूप में अपना शीर्ष स्थान चीन के हाथों गंवा दिया, बल्कि उसके कई प्रमुख संस्थानों की रैंकिंग में भी उल्लेखनीय गिरावट आई। इस वर्ष 137 भारतीय विश्वविद्यालयों ने इस सूची में प्रवेश किया, जिससे इसमें शामिल देश के विश्वविद्यालयों की कुल संख्या 294 हो गई। उच्च तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा देने की चीन की ऊर्जावान और सक्षम नीति का अंदाजा इसके 261 संस्थानों के जुड़ने से लगाया जा सकता है जिससे वहां के संस्थानों की कुल संख्या 395 हो गई है। कोई भी भारतीय संस्थान शीर्ष 10 में जगह नहीं बना पाया। इसमें हॉन्ग कॉन्ग, चीन और वैश्विक नवाचार के उभरते केंद्र सिंगापुर के संस्थान रहे। भारत का शीर्ष प्रदर्शन करने वाला विश्वविद्यालय भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आईआईटी), दिल्ली रहा लेकिन उसकी 59वीं रैंकिंग पिछले वर्ष के 44वें स्थान से 15 पायदान नीचे है। आईआईटी बंबई 2025 में 48 से गिरकर 71 पर आ गया और आईआईटी खड़गपुर पिछले साल के 60 से गिरकर 77 पर पहुंच गया। मद्रास और कानपुर सहित सभी प्रमुख आईआईटी ने कम से कम 2021 के बाद से अपनी सबसे निचली रैंक दर्ज की। भारत की शीर्ष 10 रैंकिंग में शामिल सात संस्थानों में से केवल चंडीगढ़ विश्वविद्यालय ही 120 से 109 पर पहुंचा है। कोई भी भारतीय विश्वविद्यालय वैश्विक स्तर पर शीर्ष 100 में स्थान नहीं रखता है। हालांकि चीन के कई विश्वविद्यालय इसमें शामिल हैं, जिनमें 14वें स्थान पर पेकिंग विश्वविद्यालय है।

विडंबना है कि यह खराब प्रदर्शन ऐसे समय में दिख रहा है, जब भारत सरकार ने पिछले एक दशक में उच्च शिक्षा में कई सुधार पेश किए हैं। इन सुधारों में, आईआईटी के लिए अधिक शासी स्वायत्तता, केंद्रीय विश्वविद्यालयों के लिए संसाधन जुटाने के मानदंडों में ढील और विदेशी विश्वविद्यालयों के प्रवेश का रास्ता आसान बनाना शामिल है। लेकिन इनमें से किसी ने भी भारतीय विद्यार्थियों को उच्च अध्ययन के लिए स्वदेश में ही रहने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार विदेश में पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थियों की संख्या इस साल 18 लाख तक पहुंच गई है, जो 2023 में 13 लाख थी। विदेश जाने में यह स्थिर वृद्धि शीर्ष भारतीय संस्थानों में उपलब्ध सीमित सीटों के साथ-साथ इन क्षेत्रों में

उपलब्ध रोजगार के अवसरों के कारण है। ये रुझान भारतीय उच्च शिक्षा में गुणवत्ता की गंभीर कमी की ओर इशारा करते हैं। इनसे यह भी पता चलता है कि केंद्रीय और राज्यों के विश्वविद्यालयों को शिक्षण मानकों और संसाधनों पर ध्यान देने की आवश्यकता है।

यह स्थिति केवल तकनीकी और वैज्ञानिक अनुसंधान पर केंद्रित संस्थानों की ही नहीं है, जिनके लिए क्यूएस रैंकिंग के मानदंड अनुकूल प्रतीत होते हैं, बल्कि कला और मानविकी के लिए भी ऐसा ही है। कला और मानविकी की उपेक्षा को कम करके नहीं आंका जा सकता। विश्वविद्यालयों में नियुक्तियों में बढ़ते हस्तक्षेप और केंद्र व राज्य सरकारों द्वारा विशिष्ट विचारधाराओं के अनुरूप पाठ्यक्रम तैयार करने के प्रयासों ने उच्च शिक्षा की ईमानदारी और गुणवत्ता को लगातार कमजोर किया है। प्रतिभाशाली शिक्षाविद और उत्कृष्ट छात्र बेहतर संसाधनों वाले स्वतंत्र अनुसंधान के अवसरों की तलाश में तेजी से अन्यत्र जा रहे हैं अनुसंधान के लिए एक तटस्थ लेकिन सक्षम वातावरण, चाहे वह कला का क्षेत्र हो या विज्ञान का, वह आदर्श है जिसकी ओर भारत को लक्ष्य बनाना चाहिए।

Date: 08-11-25

जेन-जी का विद्रोह और भारत के लिए सबक

अजय छिब्बर, (लेखक जॉर्ज वॉशिंगटन विश्वविद्यालय के इंस्टीट्यूट फॉर इंटरनेशनल इकनॉमिक पॉलिसी में विशिष्ट विजिटिंग स्कॉलर हैं)

हाल ही में आयोजित सरदार पटेल स्मृति व्याख्यान में देश के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजित डोभाल ने उचित ही यह बात रेखांकित की है कि बांग्लादेश, नेपाल और श्रीलंका में सरकारों के गिरने में शासन व्यवस्था एक प्रमुख कारण रही। जेन जी (सन 1997 से 2012 के बीच पैदा हुई पीढ़ी) के विद्रोहों ने भारत के पास-पड़ोस में मौजूद भ्रष्ट और गूंगी-बहरी सरकारों को गिरा दिया और यह सिलसिला आगे बढ़ता नजर आ रहा है।

ताजा नाम है हिंद महासागर में मौजूद मेडागास्कर का जहां प्रदर्शनकारियों का दावा है कि वे नेपाल और श्रीलंका से प्रेरित हुए। इसी प्रकार इंडोनेशिया, फिलिपींस, केन्या और मोरक्को में भी जेनजी प्रदर्शनों ने सरकारों को अपनी नीतियां बदलने के लिए विवश किया। एक सामान्य प्रतीक मसलन फूस से बनी टोपी पहने एक हंसती हुई खोपड़ी, इन प्रदर्शनों का मुख्य प्रतीक बनती जा रही है। यह जापानी मांगा और एनिमेशन सिरीज वन पीस से प्रेरित है जिसमें समुद्री डकैतों का एक गुट भ्रष्ट सरकारों से लोहा लेता है।

इनमें से प्रत्येक विद्रोह की तात्कालिक वजह थोड़ी अलग है। बांग्लादेश में इसकी वजह थी सरकारी नौकरी में कोटा सिस्टम वापस लाने का निर्णय, नेपाल में सोशल मीडिया पर प्रतिबंध, इंडोनेशिया में सांसदों के लिए ऊंचा वेतन और मैडागास्कर में बिजली और पानी की कमी। परंतु इन विद्रोहों की व्यापक वजह एक ही रही है, भले ही तात्कालिक प्रेरणा कुछ भी रही हो।

युवाओं के तेवर बगावती हैं क्योंकि अवसरों की कमी है और सेवाओं की गुणवत्ता खराब। परंतु इन तमाम विद्रोहों में एक साझा वजह भी है: भ्रष्टाचार का विरोध। सोशल मीडिया ने युवाओं को इस बात को लेकर जागरुक बना दिया है कि अभिजात सरकारें कितनी निष्प्रभावी और भ्रष्ट हैं और कैसे वे उनका जीवन और भविष्य बरबाद कर रही हैं।

ट्रांसपैरेंसी इंटरनैशनल (टीआई) हर वर्ष भ्रष्टाचार धारणा सूचकांक प्रकाशित करता है। यह सूचकांक 180 देशों में भ्रष्टाचार को लेकर कारोबारियों की धारणा पर आधारित होता है। इन्हें 0 से 100 के पैमाने पर आंका जाता है जहां उच्च स्कोर का अर्थ होता है कम भ्रष्टाचार। टीआई के स्कोर के अनुसार देखा जाए तो बांग्लादेश में भ्रष्टाचार बहुत अधिक है और उसे 150वां स्थान दिया गया है। इसी प्रकार मेडागास्कर को 140वां स्थान और श्रीलंका को 121वां स्थान दिया गया है। इन सभी देशों में भ्रष्टाचार बहुत अधिक बढ़ा है। नेपाल भी बहुत भ्रष्ट देश माना गया है और उसे 107वां स्थान दिया गया है लेकिन टीआई के मुताबिक बीते एक दशक में उसके भ्रष्टाचार में अधिक इजाफा नहीं हुआ है। परंतु नेपाल में युवा बेरोजगारी की दर 20.8 फीसदी है जो बहुत अधिक है। यह श्रीलंका से थोड़ी ही कम है जहां इसका आंकड़ा 22.5 फीसदी है। वास्तविक बेरोजगारी काफी अधिक हो सकती है।

अब विरोध प्रदर्शन लैटिन अमेरिका के पेरू तक फैल गया है जिसे सूचकांक में 127वां स्थान मिला है। हाल के वर्षों में वहां भ्रष्टाचार में भारी इजाफा हुआ है। वे देश जहां भ्रष्टाचार का स्तर बहुत अधिक है और जहां बहुत अधिक जोखिम है वे हैं मेक्सिको (140वां स्थान) और पाकिस्तान (135वां स्थान)। पूरे एशिया में हमें चीन, दक्षिण कोरिया, ताइवान और वियतनाम में भ्रष्टाचार विरोधी प्रयासों में काफी सुधार देखने को मिला है लेकिन इंडोनेशिया, फिलिपींस और थाईलैंड में यह नहीं नजर आया है। भ्रष्टाचार सूचकांक में सबसे अधिक सुधार दर्शाने वाले देश का नाम है वियतनाम (88वां स्थान), और यही वजह है कि वह आर्थिक क्षेत्र में भी बेहतर प्रदर्शन कर रहा है। वियतनाम की सबसे अमीर महिला ट्रुऑन्ग माई लैन को वित्तीय धोखाधड़ी के मामले में सजा सुनाया जाना यह दिखाता है कि वियतनाम भ्रष्टाचार से निपटने को लेकर कितना गंभीर है।

यह अनुमान लगाना तो मुश्किल है कि अगला विद्रोह कहां होगा लेकिन उम्मीद की जा सकती है कि बढ़ती अनिश्चितता और भू-आर्थिक विभाजन के बीच ऐसी घटनाएं बढ़ेंगी। क्या भारत के लिए भी इसमें कुछ सबक हैं?

भारत इस सूची में 96वें स्थान पर है और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन (राजग) सरकार के पहले कार्यकाल में उसके टीआई भ्रष्टाचार स्कोर में कुछ सुधार नजर आया लेकिन बाद में वे तमाम फायदे नदारद हो गए और इस आंकड़े में हम दोबारा 2014 के स्तर पर फिसल गए।

ये स्कोर व्यवसायों की धारणा पर आधारित होते हैं। लेकिन नागरिकों का क्या? वे सरकारी एजेंसियों से काम कराने, बिल भरने, ड्राइविंग लाइसेंस प्राप्त करने, या कानूनी और संपत्ति से जुड़े लेन-देन में अपने दैनिक जीवन में किस स्तर का भ्रष्टाचार झेलते हैं? प्रमाण बताते हैं कि बिल भुगतान और टैक्स फाइलिंग के डिजिटलीकरण के बावजूद भारतीय नागरिकों को भारी मात्रा में भ्रष्टाचार का सामना करना पड़ता है। आप जिससे भी मिलें, उसके पास घूसखोरी की कोई भयावह कहानी जरूर होगी। हमें केवल किस्से-कहानियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। ट्रांसपैरेंसी इंटरनैशनल के 2020 के ग्लोबल करप्शन बैरोमीटर में सरकारी अधिकारियों के साथ लोगों के संपर्क को लेकर सर्वेक्षण किया गया और पूछा गया कि क्या उन्होंने कभी रिश्वत दी है।

सर्वेक्षण में पाया गया कि जिन नागरिकों का सरकारी अधिकारियों से कोई काम पड़ा, उनमें सबसे अधिक 39 फीसदी भारतीयों ने रिश्वतखोरी की बात कही। यह बांग्लादेश, नेपाल और श्रीलंका सहित किसी भी देश से अधिक आंकड़ा है। भारत में घूस लेना और भ्रष्टाचार अब एक स्वीकार्य बात बन चुका है। डिजिटलीकरण के बावजूद अधिकारी किसी न किसी प्रकार रिश्वत लेने का तरीका तलाश कर ही लेते हैं। उच्च स्तर पर देखें तो इलेक्टोरल बॉन्ड की योजना बिना किसी पारदर्शिता के बड़े पैमाने पर राजनीतिक फंडिंग का मौका प्रदान करती है। परंतु भ्रष्टाचार लोगों के दैनिक जीवन को प्रभावित करता है मसलन पुलिस से काम, न्यायिक प्रक्रिया, लाइसेंस हासिल करना या संपत्ति से संबद्ध लेनदेन आदि। इसे छोटे स्तर का भ्रष्टाचार कहा जाता है।

इसका अर्थ यह कतई नहीं है कि पड़ोसी मुल्कों की तरह भारत में जेनजी जैसा विद्रोह होगा ही। भारत का विशाल आकार और मजबूत संस्थागत ढांचा इसे एक अलग परिदृश्य में रखता है लेकिन इसके बावजूद कुछ हिस्सों में आशंकाएं बरकरार हैं। प्रवासन ने एक सुरक्षा वॉल्व का काम किया है।

बिहार, उत्तर प्रदेश और ओडिशा से युवा बड़ी संख्या में देश के दूसरे हिस्सों में काम करने के लिए जा रहे हैं। परंतु इससे उन राज्यों में तनाव पैदा हो रहा है जिनमें से कुछ ने अब अपने नागरिकों के लिए कोटा प्रणाली लागू कर दी है। हालांकि प्रवासियों से उन्हें भी फायदा मिलता है। इसके बावजूद पड़ोसी देशों में हुए विद्रोह में भारत के लिए चेतावनी छिपी हुई है। भारत को केवल युवा बेरोजगारी ही नहीं बल्कि उस गहरे और व्यापक भ्रष्टाचार पर भी निशाना साधना होगा जो पूरे तंत्र में फैला हुआ है और जो नागरिकों पर एक भारी कर की तरह प्रभाव डालता है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 08-11-25

आवारा श्वान

संपादकीय

आवारा श्वानों की समस्या से निजात के लिए सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पारित ताजा निर्देश अनुकरणीय है। न्यायालय ने शुक्रवार को सभी राज्यों व केंद्र शासित प्रदेशों को शैक्षणिक संस्थानों, अस्पतालों, खेल परिसरों, बस डिपो और रेलवे स्टेशनों से आवारा कुत्तों को हटाना सुनिश्चित करने का निर्देश दिया है इस बार न्यायालय ने यह भी कहा है कि नसबंदी करने के बाद कुत्तों को वापस उन्हीं जगहों पर नहीं छोड़ा जा सकता। मतलब, सार्वजनिक जगहों से जिन श्वानों को उठाया जाएगा, फिर वहां उनकी वापसी न होगी। होता यह है कि जब नसबंदी के बाद श्वानों को उनके इलाकों में छोड़ दिया जाता है, तो उनके द्वारा काटने की गंभीर समस्या जस की तस बनी रहती है। श्वानों से मूल समस्या ही यही है कि इनकी वजह से तन-जन-धन की हानि हो

रही है। शहरों में श्वानों की बढ़ती संख्या के साथ उनसे शिकायतें बढ़ती जा रही हैं। उनके प्रति उदारता से समाधान नहीं निकल रहा है। पिछले वर्ष के आंकड़ों को देखें, तो 37 लाख लोगों को श्वानों ने काटा था और कम से कम 54 लोगों की रेबीज की वजह से दर्दनाक मौत हुई थी। अत: आवारा श्वानों की समस्या का समाधान युद्ध स्तर पर किया जाना जरूरी है।

यह समस्या इतनी गंभीर है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति विक्रम नाथ, संदीप मेहता और एनवी अंजारिया की पीठ स्वतः संज्ञान लेते हुए इस मामले की निगरानी कर रही है। पीठ ने उचित ही सभी राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों को दो सप्ताह के भीतर निर्देश की पालना करने के लिए कहा है। वाकई यह सोचने वाली बात है कि सरकारी और निजी स्कूलों, कॉलेजों, चिकित्सा संस्थानों, सार्वजनिक परिवहन केंद्रों और खेल सुविधाओं जैसी जगह पर आवारा श्वानों का आखिर क्या काम है? सार्वजनिक जगहों पर श्वानों के प्रवेश को रोकने की यह कवायद पूरी होनी चाहिए। न्यायालय ने यह भी कहा है कि ऐसे प्रत्येक सार्वजनिक परिसर के रखरखाव और निगरानी के लिए एक नोडल अधिकारी नियुक्त किया जाना चाहिए। स्थानीय नगरपालिका अधिकारियों और पंचायतों को कम से कम तीन महीने तक आवधिक निरीक्षण करना चाहिए और अदालत को रिपोर्ट देनी चाहिए। ध्यान रहे, न्यायालय ने केवल आवारा श्वानों पर ही नहीं, बल्कि महत्वपूर्ण सड़कों पर विचरने वाले आवारा मवेशियों को भी हटाने का निर्देश दिया है। दोटूक निर्देश दिया है कि राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गों से आवारा मवेशियों को हटाकर आश्रय स्थलों पर रखा जाए। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि देश में अनेक महत्वपूर्ण सड़कों पर अक्सर मवेशियों का कब्जा देखा जाता है, जिसकी वजह से मवेशी के साथ ही, इंसानी जान भी खतरे में पड़ती है। बदलते दौर में जब सड़कों पर गाड़ियों की संख्या और रफ्तार बढ़ रही है, तब मवेशियों को सुरक्षित जगहों पर पहुंचाना मानवीयता का ही प्रमाण है।

इस पूरे मामले को संवेदना और गंभीरता से देखने की जरूरत है। आवारा श्वान और मवेशियों की सुरक्षा सुनिश्चित करना भी जरूरी है। हम अगर उन्हें सड़कों पर रहने की मंजूरी दें, तो वास्तव में उन्हें मौत की ओर ढकेलेंगे। अगर आवारा पशुओं से इंसानों को नुकसान होता है, तो खुद पशुओं की जिंदगी भी खतरे में पड़ती है। अत: बेहतर मानवीय बदलाव के लिए न्यायालय की सक्रियता जरूरी है, इसमें राज्यों को पूरा साथ देना चाहिए। अभी तक का अदालती अनुभव बताता है कि ज्यादातर राज्यों के अधिकारी पूरी तरह से सहयोग नहीं कर रहे हैं, अत: इस मोर्चे पर कड़े निर्देश और निगरानी का वक्त आ गया है।